



अहिंसा का गाँधी दर्शन : एक आलोचना

प्रोमिला, Net Qualified 2016

विषय संकेत :- गाँधी दर्शन, अहिंसा, हिन्द स्वराज

भारतीय राजनीति ने अपनी संघर्ष-यात्रा के अनुभव से अनेक राजनैतिक सिद्धान्त निगमित किये हैं। उन्हीं में एक सिद्धान्त 'अहिंसा' का है। प्रस्तुत आलेख में गाँधीजी की पुस्तक 'हिन्द स्वराज' के माध्यम से उनके समकालीन राजनैतिक परिस्थितियों, विचारों, दर्शनों के आलोक में 'अहिंसा' का परीक्षण करते हुए उसके दार्शनिक-राजनैतिक सिद्धान्त के संभावना की गहरी छानबीन की गयी है।

जो यह समझता है कि बर्फ के ऊपर कम्बल लपेट कर उसे गरमाया जा सकता है वह कुछ देर बाद देखेगा कि बर्फ का टंडापन कम्बल से और भी सुरक्षित हो गया है।

ISSN 2454-308X



—रवीन्द्र नाथ टैगोर

यह दर्शन जो सभी कर्मों पर एक ही मशीनी नियम लागू करता है अथवा एक शब्द लेता है और उसमें सारे मानव जीवन को बैठाने का प्रयास करता है, वह निरर्थक है। एक योद्धा की तलवार न्याय और सदाचार की पूर्ति के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी कि एक संत की धार्मिकता। शिवाजी के बिना रामदास पूर्ण नहीं हैं। न्याय की रक्षा करने तथा उसे छीनने और निर्बल को दबाने से बलवान को रोकने के लिए ही क्षत्रिय बनाया गया।

—श्री अरविन्द

वर्ष 2009 में भारत में असंख्य पत्र-पत्रिकाओं, सरकारी संस्थाओं द्वारा गाँधी जी के हिन्द स्वराज की शती मनायी गई। अधिकांश लेखों, भाषणों में लगभग एक जैसी बातें दुहराई गईं, यह एक महान रचना है, कि सारी दुनिया गाँधीजी की अहिंसा का लोहा मान गई है, या मान रही है। किसी ने इस भगवान बुद्ध के बाद कहे गए सबसे मूल्यवान वचन कहे तो किसी ने इसे 'सामाजिक अध्यात्म' का नया दर्शन बताया। एक बड़े गाँधीवादी विद्वान ने तो अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा को मिले नोबल पुरस्कार को भी अहिंसा से जोड़कर देखा। दुनिया में किन-किन बड़े लोगों ने इस पुस्तक का नाम लिया या तारीफ की, यह दुहराना भी कोई नहीं भूला।

देश के विचार-विमर्श की यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। यह 1920-80 के बीच के सोवियत संघ की झलक देती है। जब लेनिन या लेनिन के लिखे-बोले गए शब्दों के बारे में सोवियत तथा दूसरे कम्युनिस्टों द्वारा स्वयं ही की जाती रही अतिरिक्त प्रशंसा, और उसी के दुहराव को ही रूसी लेखक, पत्रकार, शिक्षाविद् और नेता लेनिनवाद की महानता का अकाट्य प्रमाण समझते थे। लेनिन के विचारों के गुण-गान को ही विद्वत् लेखन भी माना जाता था। 1947 के बाद के भारत में गाँधी या नेहरू की विरासत के बारे में विमर्श की स्थिति उससे अधिक भिन्न नहीं रही है। चाहे यहाँ किसी तानाशाही सत्ता से भय का वह कारक न हो, किंतु गाँधी-नेहरू का नियमित सरकारी प्रचार, उन की स्वयंसिद्ध वैचारिक महानता का (अंध) विश्वास, सत्ता और संस्थानों से किंचित लाभ-यश की आस और प्रतिकूल दृष्टि से बचने की चाह – यह सब यहाँ के विद्वत्-जगत में भी प्रचलित है।

अधिक दिन नहीं हुए, जब हमारे अनेक गाँधीवादी लेखक और शोध-कर्ता गाँधी और मार्क्स के विचारों में साम्य ढूँढा करते थे। उस पर पूरी पुस्तकें तक लिखी गईं। आज वह लेखन-स्वर लुप्त क्यों हो गया। अब बरसों से किसी गाँधीवादी को वह सब कहते नहीं सुना गया, जो वर्ष 1991 तक सुना जाता था। अथवा सुनी-सुनाई के मतिशूल्य दुहराव से प्रभावित थीं।

उसी का दूसरा पक्ष यह है कि गाँधी-नेहरू के सिवा एक से एक समकालीन भारतीय महापुरुषों के गुरु-गंभीर विचारों, प्रखर, मौलिक और विचारोत्तेजक चिंतन को विस्मृत किया जा चुका है। जस्टिस रानाडे, स्वामी दयानन्द, बंकिमचन्द्र, विवेकानंद, तिलक, मदन मोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपत राय, श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, के.एम. मुंशी, वीर सावरकर, राम मनोहर लोहिया आदि जैसे कुछ नाम सहज ध्यान में आते हैं। इनमें से कुछ का अकेला दार्शनिक, सांस्कृतिक, सामाजिक या शैक्षिक चिंतन गाँधी और नेहरू दोनों को मिलाकर देखने पर भी भारी पड़ता है। पर उन नामों में से कुछ तो नई पीढ़ियों के लिए बिल्कुल अपरिचित से हो चुके हैं। जिनसे परिचय बचा हुआ भी है तो उसमें सत्ता या शैक्षिक संस्थानों का कोई योगदान नहीं है तथा वह परिचय भी अति-सीमित है।

अतः यहाँ गाँधी जी की महानता के स्वयंसिद्ध स्वरूप में नेहरूपंथी सत्ता-प्रश्रय का सबसे बड़ा अवदान है। वे इसका उपयोग अपनी अनैतिक किस्म की सेक्यूलर राजनीति को वैध ठहराने में करते रहे हैं। उन्हें इस विडंबना की परवाह नहीं कि गाँधी विचार – "धर्म से पृथक की हुई राजनीति लाश के समान है, जो केवल दफना देने योग्य होती है" – से उनकी राजनीति घोर पातक है। साथ ही, वह गाँधी की आड़ में दूसरे सभी महत्वपूर्ण विचारों, मनीषियों को तहखाने में दबा रखने का काम सफलतापूर्वक करते रहे हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गाँधी के (कहीं-कहीं नेहरू के भी) उन सभी विचारों को कदापि याद तक नहीं किया जाता, प्रचारित करना तो दूर रहा, जो उनकी विशिष्ट सेक्यूलरवादी राजनीति के लिए असुविधाजनक जान पड़ता हो। जैसे, ऊपर अभी उद्धृत की गई बात। इसी प्रकार चर्च-विस्तारवाद और संगठित धार्मिकरण के विरुद्ध गाँधी के सुचिंतित, विस्तृत विचारों को, आज नितांत प्रासंगिक होने पर भी, सावधानीपूर्वक छिपा रखना इसका एक उदाहरण है। गैर-सरकारी गाँधी संस्थान भी यही करते हैं।

दूसरा महत्वपूर्ण अवदान स्वयं पश्चिमी समर्थन का है जो गाँधी का उपयोग कई मामलों में अपने स्वार्थी, दुराग्रहों को भारत पर थोपने में करता है। यह संयोग नहीं कि कई पश्चिमी लेखकों और नेताओं ने गाँधी में 'ईसा की झलक' देखी है। अमेरिकी पादरी जे.एच.होम्स ने तो उन्हें 'दूसरा ईसा मसीह' ही कह दिया था। पर भारत में गाँधी को महानता की सहज स्वीकृति के बावजूद किसी ने उनमें राम, कृष्ण या बुद्ध की भी झलक नहीं देखी। क्या यह महत्वपूर्ण नहीं है। जो लोग गाँधी को मिले पश्चिमी प्रचार और श्री अरविन्द से लेकर लोहिया और अटल बिहारी वाजपेई तक के राजनीतिक नकार या उदासीनता को अनायास समझते हैं वे अंतर्राष्ट्रीय सम्यतागत राजनीति और सामी (सेमेटिक) मजहबों की साम्राज्यवादी भावना के प्रति भोले हैं।

वैसे भी, पश्चिमी महानुभावों द्वारा गाँधी की प्रशंसा की बौद्धिक तौल-परख हो सकती है। जहाँ तक अलबर्ट आइंस्टीन ने गाँधी के बारे में जो कहा था अथवा लॉर्ड लोथियान सेवा-ग्राम गए थे तो उन्होंने हिन्द स्वराज की प्रति मांगी थी— ऐसी बार-बार दुहराई जाने वाली उक्तियों की बात है, तो यह भक्त अनुयायियों को ही संतुष्ट कर सकती है। इनसे वस्तुतः कुछ प्रमाणित नहीं होता। उलटे दुहराने वाले की वैचारिक दुर्बलता ही प्रदर्शित होती है। क्योंकि उनके समझ गाँधी के बारे में कठोर, सुचिंतित बातें कहने वाले वैसे ही अनेक महापुरुषों की उक्तियाँ उद्धृत करें तो किस का निष्कर्ष सही था, यह देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि गाँधी के प्रति लॉर्ड बावेल, लॉर्ड लिन्लिथगो, लॉर्ड वेलिंगटन, मौटेयू या श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, गोखले, डॉ० अंबेदकर, लोहिया प्रभृत महापुरुषों के विचारों को सामने रखें तो इन पर क्या रूख होना चाहिए, स्पष्ट होगा। क्योंकि पद आदि की दृष्टि से विचारकों का वजन वही है, कइयों का अधिक भी, और